

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक सन्दर्भों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सन्दर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, वह अनुमूल्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है; कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistemological) चिन्तन से ही सन्तोष धारण कर लेता हो। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दुःख की समस्या में है। दुःख और दुःख-मुक्ति यही भारतीय दर्शन का 'अर्थ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्व-मीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के लिए हैं। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक सन्दर्भ को और स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है; वह ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि-मुनियों के हाथों से निकलकर तथाकथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः उसमें तार्किक पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिपूरक साधना पक्ष एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं —

- १- वैदिक युग,
- २- औपनिषदिक युग एवं
- ३- जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अमर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' (ऋग्वेद १०/१९१/२) तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें अर्थात् तुम्हारे

जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है —

**समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानी वः ॥
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥**
(ऋग्वेद १०/१९१/३-४)

आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें। सम्भवतः सामाजिकजीवन एवं समाज निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये महत्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे -

**ॐ सहनाववतु सहनोभुनक्तु सहवीर्यं करवावहे,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ।**

(तैत्तिरीय आरण्यक, ८/२)

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हों, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था - 'शत-हस्तः समाहर, सहस्रहस्तःसीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँटो। किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है। क्योंकि भारतीय चिन्तन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभागम्'। जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है वह पापी है (केवलाघो भवति केवलादी)। जैन दर्शनिक भी कहते थे 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो सम-विभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिक युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं। किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक चिन्तन में

वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बर्हिमुखी थी, वहीं उपनिषदों में आकर अन्तर्मुखी हो गयी। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मा की अनुभूति है और जब एकात्मा की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मा की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चि जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृह्ण कस्यस्विद्धनम् ॥ - ईशा०, १/१

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गांधी जी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि यदि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

यदि हम उपनिषदों के पश्चात् महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में और उसके पश्चात् आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में हमें समाज की आंगिक संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

‘कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः ।
जगतो ऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥’

(बोधिचर्यावतार, ८/११४)

जिस प्रकार हाथ आदि शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं वैसे ही सब प्राणी जगत् के अवयव होने के कारण क्यों प्रिय नहीं होंगे। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि -

‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥’

(गीता, ६/३२)

अर्थात् जो सुख-दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है जो हमें एकात्मा की अनुभूति कराता है ‘अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्’। वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकात्मा की अनुभूति ही ज्ञान की सात्त्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता ‘सर्वभूत-हिते रताः’ का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं -

‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः’ (गीता, १२/४)

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है। जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना भोग करता है वह गीताकार की दृष्टि में चोर है (स्तेन एव सः, ३/१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३/१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए उसने संन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि-

‘काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः’

(गीता, १८/२)

काम्य अर्थात् स्वार्थ युक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्न और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोक-कल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्न न चाक्रियः ॥

(गीता ६/१)

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-शिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथासक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम् ३/२५)। गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह भी सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया।

गीता वर्ण-व्यवस्था को तो स्वीकार करती है किन्तु जन्म के आधार पर नहीं, गुण एवं कर्म के आधार पर (चातुर्वर्ण्य मयासृष्टं गुण-कर्मविभागशः - गीता, ४/१३)। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि -

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥

(गीता, १८/४१)

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का विभाजन उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर किया गया है। सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है -

यावत् ध्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं देहिनाम् ।

अधिको योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

- श्रीमद्भागवत, ७/१४/८

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आजका समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, 'योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एक मात्र कसौटी है, किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है -

'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'

जो लोक के लिए हितकर तथा कल्याण कर है, पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्यायें भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित हैं।

(३)

यदि हम निर्वर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध, सांख्य, योग एवं शांकर वेदान्त की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं। पं० सुखलालजी के शब्दों में "प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था है, उसे इस तरह नियम-बद्ध करना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा के अनुरूप सुख लाभ करे। प्रवर्तक धर्म समाज-गामी था, इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर (उन) सामाजिक कर्तव्यों का पालन करे जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। (जबकि) निर्वर्तक धर्म व्यक्तिगामी है, (वह) समस्त

सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं कहता है। उसके अनुसार व्यक्ति के लिये मुख्य कर्तव्य एक ही है, वह यह कि जिस तरह भी हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे (दर्शन और चिन्तन)।" किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निर्वर्तक धारा के समर्थक अर्थात् जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, शांकर वेदान्त आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक सन्दर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमें भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य का जीवन स्वयं इस बात का साक्ष्य है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वहण की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के पंच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पंचशील और योग दर्शन के पंचयमों का सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरण सूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि 'तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही हैं - (प्रश्न व्याकरण, १/१/२१-२२)। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित हैं। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या सन्दर्भ रह जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादायें इन दर्शनों ने दीं, वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही हैं।

इसी प्रकार इन दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ की भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं -

सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम् ।

माध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ सदामात्मा विदधातु देव ॥

- सामायिक पाठ

हे प्रभु ! हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव

विद्यमान रहे। इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों, यही स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जियें यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा की अटूट धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पण्णेइये)। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' 'हे प्रभु ! आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण, सर्वोदय करने वाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुल धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटिक में भी अनेक सन्दर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण किया गया है। इन सब पर इस लघु निबन्ध में प्रकाश डाल पाना सम्भव नहीं है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुतः इन दर्शनों ने आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

(४)

सम्भवतः भारतीय दर्शन को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्ति मार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्त्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अतः भारतीय सन्दर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं, वास्तविकता तो यह है कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और

सामाजिक सम्बन्धों के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं तो इन सम्बन्धों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्म परिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहः ।।
आत्मान् परित्यज्य दुःख त्वैक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निं परित्यज्य दाहं त्वैक्तुं न शक्यते ।।

-बोधिचर्यावतार, ८/१३४-१३५

संसार के सभी दुःख और भय एवं तदजन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है वह सब नहीं हो सकता है। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति छोड़ बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई एवं

प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्यनिष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। भारतीय दर्शन में राग के साथ-साथ अहं के प्रत्यय के विगलन पर भी समान रूप से बल दिया गया है। अहं भाव भी हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाधा ही उत्पन्न करता है। शासन की इच्छा या अधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व है और इनके कारण सामाजिक जीवन में विषमता एवं टकराहट उत्पन्न होती है। भारतीय दर्शन अहं के प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतन्त्रता को समाप्त करता है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति, रागात्मकता या अहं ही प्रमुख है। आसक्ति, ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाधार के तत्त्व जन्म लेते हैं। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार एवं विश्वासघात के तत्त्व विकसित होते हैं। इसी प्रकार आवेश की मनोवृत्ति के कारण क्रूर व्यवहार, संघर्ष, युद्ध एवं हत्याएँ होती हैं। और कपट की मनोवृत्ति अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को जन्म देती है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः आसक्ति या राग तत्त्व की उपस्थिति में सच्चा लोकहित भी फलित नहीं होता है। आसक्ति या कर्म-फल की आकांक्षा के साथ किया गया कोई भी लोक-हित का कार्य स्वार्थपरता से शून्य नहीं होता है। जिस प्रकार शासन की ओर से नियुक्त समाज कल्याण अधिकारी लोकहित को करते हुए भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ भी करता है वह केवल अपने वेतन के लिए करता है, इसी प्रकार आसक्ति या राग-भावना से युक्त व्यक्ति चाहे बाहर से लोकहित का कर्ता दिखाई दे किन्तु वह सच्चे अर्थ में लोकहित का कर्ता नहीं है। अतः भारतीय दर्शन ने आसक्ति से या राग से ऊपर उठकर लोकहित करने के लिए एक यथार्थ भूमिका प्रदान की। सराग लोकहित या फलासक्ति से युक्त लोकहित छद्म स्वार्थ ही है। अतः भारतीय दर्शनों में अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

(५)

सामान्यतया भारतीय दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है ? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे

क्या वह असामाजिक हो जाता है ? संन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ता अर्थात् मैं धर्म-कामना, सन्तान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यशकीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है ? वस्तुतः समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरित्य भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं' (विनय पिटक-महावग)। इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि वह समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी एक का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोक-मंगल-साधक होता है। संन्यास शब्द सम्पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है। संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी लोकेषणा से युक्त है, ममत्व-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो संन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोक मंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रतः' का है।

संन्यास का राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किन्तु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाना विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है -

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानां तु बसुधैव कुटुम्बकम् ॥

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है। कहा भी गया है -

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।

अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल ॥

वस्तुतः निर्ममत्व एवं निःस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुःप्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचाकर लोक मंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है। जो आदर्श समाज रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

(६)

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मोधारयते प्रजाः' के रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। अतः पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्त्वमीमांसीय धारणा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एक-रूपता है और न ही उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है। किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित हैं। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहं आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन हैं और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य

शंकर कहते हैं -

'वासनाप्रक्षयो मोक्षः'

(विवेक चूड़ामणि, ३१८)

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है, जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं -

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलौः ।

अविद्या हृदय ग्रन्थि मोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥

-विवेक चूड़ामणि, ५५९

मरणोत्तर मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन-मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्ति एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर बौद्ध दर्शन में अर्हत् एवं बोधिसत्त्व और वैदिक दर्शन में स्थितप्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान् आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्त्व तो लोक मंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है -

बहूनामेक - दुःखेन यदि दुःखं विगच्छति ।

उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनोः ॥

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्राप्नोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥

-बोधिचर्यावतार, ८/१०५, १०८

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर अपने मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि -

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः ।

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ॥

नेतान् विहाय कृपणाम् विमुमुक्षुरेकः ॥

हे प्रभु ! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता। यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार बोधिसत्त्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

मवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ।

(बोधिचर्यावतार, ३/२१)

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं-

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है। 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।

(आत्म ज्ञान और विज्ञान, पृ० ७१)

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा 'अहं' भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि, में समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता

है जो अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः ।

त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयतां ॥

-बोधिचर्यावतार, ३/११

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवर्गों के कारण ही हैं। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष की उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन-दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोक मंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है -

सर्वेऽत्रसुखिनः संतु । सर्वे संतु निरामयाः ॥

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु । मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

लोक मंगल की उसकी सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। अतः मैं उसकी हिन्दी में अनूदित निम्न पंक्तियों से अपने इस लेख का समापन करना चाहूँगा -

इस दुःखमय नरलोक में,

जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं ;

जितने बहुधन्य विवेक विहीन हैं ।

जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,

वे मुक्त हों निजबन्ध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द्व से,

छूटे दलन के फन्द से ,

हो ऐसा जग में, दुःख से विचले न कोई,

वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,

असन्मार्ग धरे न कोई,

हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,

सबका ही परम कल्याण,

सबका ही परम कल्याण ।